



कभी-कभार

अशोक वाजपेयी

‘ए सदरन म्यूजिक’

ऐसा कम ही होता है हमारे यहां कि कोई संगीतकार संगीत की संरचना, उससे उठने वाले प्रश्नों और उलझनों, उसके मर्म और आशयों, उसकी स्थिति और वर्तमान पर धीरज, विस्तार और गहरी समझ के साथ ऐसी एक बड़ी पुस्तक लिखे, जो इन सभी का गंभीरता, जिम्मेदारी और मुनासिब बेबाकी से विश्लेषण और आकलन करते हुए जैसे कि कर्नाटक संगीत पर टीएम कृष्ण ने ‘ए सदरन म्यूजिक’ के नाम से अंगरेजी में लिखी और हार्पर कालिन्स ने हाल ही में प्रकाशित की है। लगभग छह सौ पृष्ठों की यह पुस्तक संगीत पर होते हुए भी बेहद पठनीय है: सूचना, संवेदना, ज्ञान और विवेक का ऐसा संगम बहुत बिरले संयोग में यहां सामने है। कर्नाटक संगीत को कई बार सुना और सराहा है। पर यह पुस्तक पढ़ने के बाद उसकी समझ निश्चय ही काफी बेहतर हुई है। जटिल और तकनीकी मामलों को, सौंदर्य और अर्थ संबंधी मुद्दों को, सामाजिक परिस्थिति और रसिकता की स्थिति को, कर्नाटक संगीत पर पड़ रहे दबावों और दुष्प्रभावों को टीएम कृष्ण ने बहुत जिम्मेदारी से प्रस्तुत और विश्लेषित किया है। मुझे हिंदुस्तानी संगीत के बारे में ऐसी एक भी पुस्तक याद नहीं आती, जिसने उसके विशाल परिसर को ऐसी बौद्धिक तीक्ष्णता और गहराई से समझा-समझाया हो।

कृष्ण हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीतों को दूर का रिश्तेदार मानते हैं: उनके अनुसार भले उनके बीच प्राचीन संगीत व्यवस्था में खोजे जा सकते होंगे, वे प्राचीन समय के किसी साझी संगीत-संपदा की निरंतरता के रूप में अवस्थित नहीं हैं। कुछ पद और विचार दोनों के बीच भले समान हैं, पर उनके अर्थ और आशय दोनों संगीतों में काफी एक-दूसरे से अलग और भिन्न हैं। अलबत्ता अपने-अपने ढंग से दोनों परंपराएं देश के विभिन्न अंचलों के प्रभावों और सर्जनात्मकता के पेचीदा भूलभुलैया का प्रतिफल हैं। उनका खयाल है कि हमारे प्राचीन संगीत का ग्रीक और रोमन संगीत परंपराओं से क्या संबंध था, इस पर उपयुक्त शोध होना बाकी है, क्योंकि दोनों ही सभ्यताओं का भारत से लंबा व्यापार-संबंध रहा था। यह मानते हुए कि हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत का उद्भव लगभग पांच सौ वर्ष पहले हुआ, वे रूप, कथ्य, प्रदर्शन-परंपरा में अलग-अलग रहे हैं और इन दोनों की ध्वनियां अलग-अलग हैं: संगीत की एक पंक्ति में ही यह प्रगट हो जाता है कि वह हिंदुस्तानी या कर्नाटक है। उनकी राहें अलग-अलग रही हैं। कृष्ण इस धारणा का भी प्रत्याख्यान करते हैं कि कर्नाटक संगीत में अधिक भारतीयता है और वह मुगल प्रभाव से मुक्त रहा है। उन्होंने पंडरीक विट्ठल (सोलहवीं शताब्दी) के हवाले से बताया है कि कर्नाटक शैली में प्रयुक्त मेलोकांता व्यवस्था का उद्गम इस्लामी, फारसी और तुर्की है और तंबूरा तो निश्चय ही फारस से आया।

हिंदुस्तानी संगीत के रसिक कर्नाटक शैली को लेकर जो एतराज जताते हैं उनका कृष्ण ने विस्तार से विश्लेषण किया है और कई आपत्तियों को, किसी हद तक, उचित बताने का साहस भी किया है। एक समग्र, विचारोत्तेजक और पठनीय पुस्तक।

एक दुस्साहसी चीनी

पिछले एक दशक में विश्व कला में जिसने बहुत दुर्दांत ढंग से अपनी जगह बनाई है, वह चीनी कला है। समकालीन चीनी कला, जिसे अधिकांशतः चीनी युवा रच रहे हैं। चीन की कट्टर राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक नियंत्रण, कड़े सेंसर, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की क्षीणता आदि का अतिक्रमण करते हुए ये दुस्साहसी युवा वहां की आर्थिक समृद्धि का लाभ उठाते हुए बहुत अप्रत्याशित कला सिरज रहे और इस तरह अपने माध्यम की नई संभावनाओं का विस्तार कर रहे हैं। यह सब करने में खासा दुस्साहस निहित है। ऐसे ही एक दुस्साहसी और पश्चिम में विशेषतः समादृत हैं- आइवाइवाइ। वे चित्रकला, डिजाइन, वास्तुकला, कविता, प्रकाशन, ब्लॉगिंग आदि अनेक क्षेत्रों में सक्रिय हैं। पेंगुइन ने उनसे बातचीतों का एक संचयन प्रकाशित किया है: ‘आइवाइवाइ स्पीक्स’। उसे पढ़ने से पता चला कि वे चीनी भाषा में आधुनिक महाकवि के रूप में सर्वमान्य आइ छिङ् के बेटे हैं और उनका जन्म गोबी मरुस्थल में हुआ था, जहां उनके पिता को अपनी कविता के विचारधारात्मक स्खलन के दंडस्वरूप निर्वासित कर दिया गया था। आइ छिङ् से मेरी भेंट तोक्यो के एक लेखक-सम्मेलन में हुई थी, जहां यह भी पता चला था कि उन्होंने

पेरिस में रह कर चित्रकला का विधिवत अध्ययन किया था और उनका पिकासो आदि से संपर्क था। इसलिए उनका बेटा चित्रकला और कविता की ओर मुड़े, इसमें अचरज की बात नहीं है: पर इस बेटे की सर्जनात्मकता का भूगोल अधिक विविध और बड़ा है।

वास्तुकला में दो बड़े सामूहिक प्रयोग सफलता से इस चित्रकार ने किए हैं। पहला था ओलंपिक के लिए बनाया गया बड़ा स्टेडियम, जो संसार भर में ‘पक्षी के घोंसले’ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। दूसरा है जिनहुआ आर्किटेक्चर पार्क, जो उन्हें अपने पिता की स्मृति में बनाने का न्योता मिला, जिन्हें पहले बीस बरसों तक नामालुमी में रहने का दंड दिया गया था। एक नदी के किनारे दो किलोमीटर लंबी एक हरियाली की पट्टी जिस पर स्थायी पैविलियन के रूप में संसार के इस वास्तुकारों को, जिनमें चीन के कुछ वास्तुकार शामिल थे, अलग-अलग पैविलियन परिकल्पित करने और बनाने का अवसर मिला। इस चित्रकार को वास्तुकला की ओर आकर्षित किया, विट्रोस्टाइन ने अपनी बहन के लिए जो घर परिकल्पित किया और बनाया था, उसने। उन्होंने पहले पहल अपना स्टूडियो खुद ही डिजाइन कर बनाया। बाद में उन्होंने एक सौ वास्तुकारों के साथ इनर मंगोलिया में एक और प्रोजेक्ट किया है। आइवाइवाइ के ब्लॉग को अब तक चालीस लाख लोग देख चुके हैं और उस पर वे अब तक सत्तर हजार फोटो डाल चुके हैं, हर दिन कम से कम सौ की दर से। वे ब्लॉग को सामाजिक स्थापत्य कहते हैं। अमेरिका में रहते हुए एलेन गिंसबर्ग से भी उनकी मित्रता हो गई थी। कविता के बारे में वे कहते हैं कि ‘वह हमें बुद्धि की उस अवस्था में रखती है जो तर्कणा के पहले की है। वह हमें अपनी भावनाओं से शुद्ध रूप में संपर्क में लाती है।... सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि वह हमें ऐसी अबोध स्थिति में लाती है, जिसमें कल्पना और भाषा बहुत वेध और साथ-साथ बहुत वेधक हो सकती हैं।’

दैनंदिन की मानवीय नाटकीयता

हम सभी अक्सर अपने दैनंदिन की रूटीन से ऊबते हैं: उसमें इतना एकसापन लगता है कि उसकी निपट मानवीयता और उसमें छिपे नाटक को हम अक्सर दुर्लक्ष्य करते हैं। जॉर्ज पेरैक यों तो अपने क्लैसिक उपन्यास ‘लाइफ ए यूजर्स मैनुअल’ के लिए जाने जाते हैं, उन्होंने और भी कई करतब किए हैं, जिनमें से एक ऐसा उपन्यास भी है जिसमें ‘इ’ स्वर का इस्तेमाल एक बार भी नहीं किया गया है। उन्होंने 1975 में एक ऐसा वृत्तान्त प्रकाशित किया था, जिसमें पेरिस के प्रसिद्ध सां सुलपीस के पास घटने वाली दैनंदिन की जिंदगी का वृत्तान्त है। वेकफिल्ड प्रेस ने हाल ही में यह वृत्तान्त ‘एन एटैम्प्ट एट एक्सहारिंग ए प्लेस इन पेरिस’ शीर्षक से अंगरेजी में प्रकाशित किया है।

जिस जगह से पेरैक वर्णन करते हैं वहां के एक कैफे में मैं एकाधिक बार गया हूं ऐसा याद आता है, एक बार फ्रेंच कवि मिशेल दुगी से मिलने। जिस चौगान में हलचल का बखान है उस चौगान में आयोजित कविता-बाजार में भी कवि और खरीदार की तरह शिरकत की है। सुलपीस के चर्च के अंदर गया हूं। 86 नंबर की बस का कई बार जिक्र है उसमें सफर किया है, सैं जर्में द प्रे आने के लिए। इसलिए इस वृत्तान्त में दिलचस्पी जागी। उसमें कुछ नहीं होने पर दरअसल क्या होता है, इसका सीधा-सादा बखान है। उससे यह जाहिर होने लगता है कि जब हम समझते हैं कि सब कुछ रूटीन-सा चल रहा है और कुछ नहीं हो रहा है तब कितना-कुछ अपनी गति और लय से होता चलता है। शब्दों में उसका चित्रांकन, बिना किसी लाग-लपेट या अलंकरण के, उस होने को अस्तित्व से बिल्कुल ओझल हो जाने से मानो बचा लेता है। किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, पर उसमें इतने सारे लोग इधर से उधर आते-जाते, ठहरते, बैठते, चीजें खरीदते, बतियाते, निठल्ले घूमते हुए, अकेले, कभी संगी के साथ दर्ज होते चलते हैं, जैसे कि चीजें भी: छाते, छड़ियां, झोले, फ्रेंच डबलरोटियां, जिन्हें बगीत कहते हैं, टोपियां, दस्ताने, कबूतर, कुत्ते, कारें, बसें, दरवाजे, खिड़कियां, फव्वारे आदि। इन सबमें पेरैक कोई संबंध स्थापित करने की कोशिश नहीं करते-सब कुछ अपनी दैनिक मानवीय आभा में दर्ज भर है। कई रंग जैसे हरी बस, नारंगी वैन, काली कार, नीली बाइसिकिल। कई मुद्राएं जैसे कोई अपने आप कुछ याद कर हंसे हुए, कोई उदास, कोई शयवात्रा में शामिल होने के लिए उदास-गंभीर, कोई लपक कर बस पकड़ते हुए, कोई बंद गति, कोई ‘दुत धावित’, कोई कुछ खरीद कर जाने की जल्दी में। जो बीत रहा है पल-पल उसे भाषा पकड़-धाम रही है। यह काल से होइ जैसी बात है। हम उसे सचमुच रोक नहीं सकते, पर उसे दर्ज कर पूरी तरह से मिट जाने से बचा भर सकते हैं। लोगों की नामहीनता है, लेकिन दर्ज होते ही मानो उन्हें एक दृश्य में होने का नाम, जगह मिल जाते हैं।

याद आता है कि जॉर्ज पेरैक ने अपने उपन्यास ‘लाइफ ए यूजर्स मैनुअल’ के शुरू में जूलस वर्न की एक उक्ति आपत्तवचन की तरह इस्तेमाल की थी: ‘देखो अपनी सारी आंखों से, देखो’ और इस वृत्तान्त में वे यही कर रहे हैं: अपनी आंखों और भाषा से देख कर रहे हैं।